

शोध प्रबन्ध - सार

साहित्य समाज का दर्पण है। यह कथन इस रूप में सही है कि समाज और राजनीतिक क्षेत्र में उठी हुई हलचल साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अवश्य अभिव्यक्त होती है और विश्व इतिहास एवं साहित्य इस बात का गवाह है। पिछले दो दशकों में उत्तर भारत में दलित आंदोलन अपनी पूरी ताकत के साथ उभरकर आया और एक नये सामाजिक-राजनीतिक विमर्श का सूत्रपात हुआ। इन परिस्थितियों ने दलितों में एक नयी चेतना का संचार किया जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में भी हुई। यह अनायास नहीं कि हिन्दी में दलित साहित्य आन्दोलन का समय भी लगभग यही है। हिन्दी दलित साहित्य आंदोलन अपने आरंभिक लड़खड़ाहट, संघर्ष और विभिन्न विरोधों के बावजूद आज एक स्थापित धारा बन चुकी है।

दलित साहित्य के अध्ययन में तीन सवाल आरंभ में ही उठ खड़े होते हैं जो अत्यन्त विवादास्पद हैं – दलित कौन है? दलित चेतना क्या है? और दलित साहित्य से आशय क्या है? दलित शब्द, जो आधुनिक युग की देन है, का सामान्य अर्थ समाज के उस वर्ग से है जिसका दलन किया गया है, जिसे सबसे निम्न समझा जाता है और जिसे उच्च वर्गों के लोगों ने विकसित नहीं होने दिया। लेकिन यह सामान्य संकल्पना आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक, सांविधानिक एवं लिंगीय दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न अर्थ और आयाम ग्रहण करता है, जिसकी विस्तार से चर्चा शोध प्रबंध के प्रथम अध्याय में की गई है। आर्थिक दृष्टि से दलित एक वर्गीय शब्द है, जिसमें सभी वर्गों के गरीब लोग समाहित हो जाते हैं। इस दृष्टिकोण की यह सीमा है कि सभी वंचित लोगों की सामाजिक प्रस्थिति (Status) समान नहीं होती। गरीब ब्राह्मण और गरीब चमार की सामाजिक प्रस्थिति अलग होगी। याद करें तुलसी की पंक्तियाँ – पूजिय विप्र सील गुन हीना, सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना। राजनैतिक रूप से बहुजन समाज की कल्पना की गई है जिसमें अछूतों, पिछड़ों और मुसलमानों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिश है, यद्यपि इनके अपने अंतर्विरोध हैं।

लिंगीय दृष्टि से स्त्रियों को दलित माना गया है जो विभिन्न निर्योग्यताओं से ग्रस्त और पीड़ित हैं यद्यपि यह वर्गीकरण भी विवादों से परे नहीं है। द्विज स्त्री और दलित स्त्री में कई समानताएँ होते हुए भी एक विशिष्ट अंतर है, वर्ण का, जो सामाजिक-मनोवैज्ञानिक धरातल पर बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाता है। धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखें तो श्रेणीबद्ध हिन्दू समाज की वर्णव्यवस्था के पाचवें सोपान पर अवस्थित (जो चार वर्णों से बाह्य है) अतिशूद्र अथवा अस्पृश्य जातियाँ दलित हैं। इनकी स्थिति शूद्रों से भी नीचे है जिसे एम०एन० श्रीनिवास, एफ०जी० बेली और ओवेन लिंच आदि अनेक समाजशास्त्रियों ने भी दिखाया है। इस समूह को शास्त्रीय रूप से प्रगति और ऊर्ध्व गतिशीलता (upward mobility) का कोई अवसर प्राप्त नहीं था। शूद्र इन निर्योग्यताओं से ग्रस्त नहीं थे। संवैधानिक रूप से इन्हीं अछूतों को ही आरंभ में 'शुद्ध क्रास्ट' की मान्यता दी गई।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्गीय अवधारणा की अपनी सीमा होते हुए भी व्यापक सामाजिक-राजनैतिक एकता की भूमिका को ध्यान में रखकर अनेक दलित लेखकों-चिन्तकों ने दलित आंदोलन के लिए बदलते हुए दौर में इसकी आवश्यकता को अपरिहार्य माना है।

समग्र रूप से देखें तो आज की परिस्थितियों में दलित शब्द एक रूढ़ अर्थ ग्रहण कर चुका है। वर्तमान में दलित शब्द पूर्व की अछूत/पंचम जातियों के पर्याय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में दलित शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है।

आज दलित शब्द तथाकथित अस्पृश्यों की वेदना, पीड़ा और छटपटाहट को अभिव्यक्त करता है, साथ ही विद्रोह और मुक्ति की प्रेरणा को भी। यही अभिव्यंजना 'दलित-चेतना' में भी व्यक्त होती है।

वर्णाश्रम व्यवस्था आदि के तहत जारी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दमन, शोषण, उत्पीड़न के प्रतिरोध और प्रतिकार की चेतना ही मूलतः दलित चेतना है। यह दलित चेतना एक तरफ

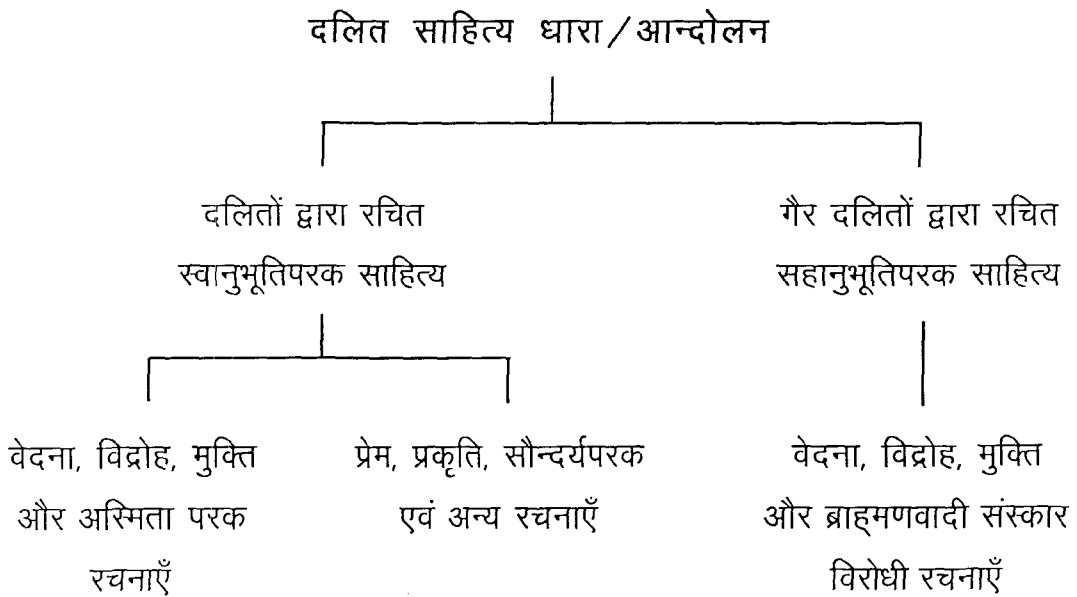
जहाँ निषेधात्मक है और वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, पुनर्जन्म, भाग्य, कर्मफल के सिद्धान्त, कर्मकाण्ड आदि को नकारता है तो दूसरी तरफ सकारात्मक अथवा विधेयात्मक रूप से दलित चेतना स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय एवं मानवतावाद को प्रतिष्ठित करने वाला चिंतन है। मनुष्य और मनुष्यता इस चेतना के केन्द्र में है। इस दलित चेतना का आधार अम्बेडकरी चिंतन है जो स्वयं गौतम बुद्ध और ज्योतिबा फुले से प्रभावित थे। यहाँ स्पष्ट कर देना जरूरी है कि यद्यपि प्रत्यक्षतः मार्क्सवाद से दलित चिंतन एक दूरी रखना चाहता है लेकिन बदलते हुए वैश्विक आर्थिक-राजनीतिक दौर में दलित चेतना को मार्क्सवादी चेतना से जुड़ना ही पड़ेगा और इसकी ओर अनेक दलित लेखकों ने भी इशारा किया है।

दलित साहित्य को लेकर कई विवाद हैं, इसके नामकरण से लेकर अन्तर्वस्तु-स्वरूप एवं रचनाकारों को लेकर दलित साहित्य में एक बहस जारी है। इन सब पर विस्तार से चर्चा और विवेचन शोध प्रबन्ध में किया गया है। यहाँ संक्षेप में दलित साहित्य की मुख्य बहसों को देखा जाए। एक बहस अन्तर्वस्तु की है कि दलित साहित्य क्या केवल पीड़ा, वेदना, विद्रोह और मुक्ति का ही काव्य है अथवा इसमें प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति आदि इतर विषय भी शामिल किये जा सकते हैं। डॉ० धर्मवीर, श्योराज सिंह आदि से सहमत होते हुए शोधकर्ता का मत है कि प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति और जीवन के अन्य पहलुओं एवं दलितों की आशा-आकांक्षाओं आदि को भी दलित साहित्य की एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। हाँ! यह शर्त है कि वह चित्रण सामाजिक न्याय और मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा में सहायक हो।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बहस यह है कि दलित साहित्य के अन्तर्गत केवल दलितों के द्वारा रचित साहित्य को रखा जाए अथवा उस साहित्य को भी जो गैर दलितों द्वारा दलितों के जीवन पर लिखे गए हैं। दरअसल सवाल स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का है, जो प्रामाणिक अभिव्यक्ति के प्रश्न से जुड़ जाता है। दलित साहित्यकार जब दलित साहित्य को सिर्फ दलितों के लिखे साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं तो उसके भी ठोस कारण हैं

जिसकी विस्तार से चर्चा शोध प्रबंध में की गयी है। इसके अतिरिक्त मैनेजर पाण्डेय और राजेन्द्र यादव जैसे अनेक गैरदलित साहित्यकारों ने यह स्वीकार किया है कि दलित साहित्य की प्रामाणिक अभिव्यक्ति दलित लेखक ही कर सकता है, स्वानुभूत यथार्थ का कोई विकल्प नहीं हो सकता। किन्तु देखे, सुने अथवा संवेदना के स्तर पर आत्मसात किए गए यथार्थ की भी अपनी एक विश्वसनीयता और प्रामाणिकता होती है, जिसका साक्ष्य बाल्जाक, टॉल्स्टॉय तथा प्रेमचंद आदि अनेक लेखकों में मिलता है जिन्होंने किसान न होते हुए भी ग्रामीण जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र खींचे। अतएव सवाल यथार्थ की प्रामाणिक, वस्तुनिष्ठ प्रस्तुति का है। कोई गैर दलित लेखक दलित जीवन का साक्षात्कार कर पूरी संवेदना के साथ उनके जीवन संघर्ष को प्रस्तुत कर रहा हो तो ऐसे लेखन को बाहर रखना न्याय नहीं होगा। लिंगबाले आदि अनेक दलित साहित्यकारों ने इस मत की वकालत की है। हाँ यह जरूर है कि सवर्ण लेखक इस साहित्य आंदोलन का नेतृत्व करने की इच्छा न करें।

दलित साहित्य की प्रवृत्तियों को चार्ट के रूप में निम्नलिखित तरीके से देखा जा सकता है —



यद्यपि प्राचीन और मध्यकाल में दलितों (अस्पृश्यों) ने वर्णव्यवस्था के विरुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति की थी, लेकिन आधुनिक अर्थों में यह शुरुआत नवजागरण काल में ही होती है। हीरा डोम और अछूतानंद हिन्दी दलित कविता के आरंभिक कवियों में माने जाते हैं जिनकी रचनाओं में दलित चेतना पहली बार अभिव्यक्त होती दिखाई पड़ती है। हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' 1914 में आती है जिसमें वह भगवान को चुनौती देते हैं। इन रचनाकारों के बाद छिटपुट रूप से हिन्दी में अन्य दलित रचनाएँ आती रहीं। लेकिन 80 के दशक में इसने आंदोलन की शक्ल लेना शुरू किया। 1981, 2 अक्टूबर को 'भारतीय दलित साहित्य मंच' और 1985, 6 अगस्त को 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' की दिल्ली में स्थापना के साथ आंदोलन का बिगुल बज गया। अकादमी ने दलित साहित्यकारों को मंच प्रदान किया। धीरे-धीरे कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचना और पत्रकारिता में दलित साहित्यकारों ने अपनी पहचान बना ली है। हिन्दी के मटाधीशों की आरंभिक उपेक्षा और विरोध के बावजूद दलित साहित्य हिन्दी की एक स्थापित धारा है जिसे अब सबने स्वीकार लिया है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में जो दलित साहित्य की स्थिति है, उसे भी संक्षेप में शोध प्रबंध में दिखाया गया है, जो संवेदना के धरातल पर हिन्दी से अलग नहीं है।

दलित चेतना और दलित प्रश्न पहली बार नवजागरण काल के दौरान विभिन्न नयी परिस्थितियों के कारण उभरकर आता है। इस काल के दौरान वर्ण व्यवस्था विरोध के सामाजिक आंदोलनों और दलित चेतना के स्तर पर चल रहे बौद्धिक विमर्शों की चर्चा विस्तार से शोध में की गयी है। निम्न जातियों को लेकर वर्णाश्रम के विरुद्ध पहला बिगुल ज्योतिबा फुले ने 1870 में बजाया। 19वीं सदी के अन्त होते-होते अवर्णों के जाति विरोधी आंदोलन भारत के विभिन्न हिस्सों में उठ खड़े हुए। आरंभ में इन आंदोलनों का फोकस सामाजिक मुद्दों यथा मंदिर प्रवेश, सड़क-बाजार-स्कूलों में प्रवेश, छुआछूत एवं दासी प्रथा उन्मूलन आदि पर था। लेकिन धीरे-धीरे दलित आन्दोलनों ने आर्थिक मुद्दे भी उठाने शुरू किए

जिसकी परिणति राजनैतिक अधिकारों और सत्ता में हिस्सेदारी की मांग में हुई। अम्बेडकर ने उद्घोष किया कि – “हम लोगों को शासक समुदाय बनना होगा”। इन आन्दोलनों के प्रभाव से उदार सवर्णों जैसे गांधीजी आदि का ध्यान दलित समस्या की ओर गया। लेकिन गांधीजी के सुधार कार्यक्रमों की यह सीमा थी कि इसे वह आर्थिक-राजनैतिक समस्या न मानकर नैतिक और मनोवैज्ञानिक मानते थे। लेकिन फिर भी इसने हिन्दी क्षेत्र के जनमानस को एक हद तक प्रभावित किया।

हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट है कि बंगाल, महाराष्ट्र अथवा दक्षिण से यह अलग था, जिसकी विशिष्टताओं और उसके कारणों का विवेचन शोध प्रबंध में विस्तार से किया गया है। आरंभ में यह नवजागरण अधिकांश में सामाजिक आंदोलन न होकर साहित्यिक ही था जो भारतेन्दु मण्डल आदि के नेतृत्व में चला। सामाजिक परिवर्तन का केन्द्र आर्य समाज का आंदोलन था जो कालांतर में वृहत्तर हिन्दू समाज द्वारा आत्मसात् कर लिया गया। स्वयं दलितों द्वारा चलाए गए आन्दोलनों में ‘अछूतानन्द हरिहर’ का ‘आदि हिन्दू’ आंदोलन था जिन्होंने अपने अखबार ‘आदि हिन्दू’ के माध्यम से दलित स्वाभिमान और दलित मुक्ति के सवाल उठाए। लेकिन समग्र रूप में हिन्दी क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था और दलित प्रश्न साहित्य और समाज का प्रमुख एजेंडा नहीं बन पाए।

हिन्दी क्षेत्र में व्यापक स्तर पर दलित जीवन को विषय बनाकर रचना करने वालों में सर्वप्रथम प्रेमचंद का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने अपनी सीमाओं के बावजूद वर्ण व्यवस्था के कटु सत्य को उद्घाटित किया है। लेकिन प्रेमचन्द के बाद के 40-50 वर्षों के कालखंड में प्रभूत मात्रा में होने वाली साहित्यिक रचनाओं में दलित जीवन/चेतना के साहित्य की दशा अत्यन्त निराशाजनक है। क्या वजह है कि प्रेमचंद ने इस संबंध में पर्याप्त लिखा लेकिन उसके पश्चात् दलितों और गैर दलितों, दोनों ही का 40-50 वर्षों तक ऐसा साहित्य कुछ खास नहीं मिलता। इसके कारणों की तलाश द्वितीय अध्याय में की गयी है।

यहीं पर यह भी रेखांकित कर देना जरूरी है कि जिन कारणों से प्रेमचन्द के बाद दलित समस्या/चेतना का साहित्य 40-50 वर्षों तक नहीं आ पाया, 70-80 के दशक में उन्हीं कारणों के प्रादुर्भाव/उपस्थिति ने दलित साहित्य आंदोलन को जन्म दिया। शोध में विस्तार से विवेचन कर दिखाया गया है कि हिन्दी में दलित साहित्य आन्दोलन एक आकस्मिक घटना नहीं थी। विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में विभिन्न कारणों के सम्मिलित और समन्वित प्रभाव से दलित साहित्य आन्दोलन का जन्म होता है।

इसके कारणों में सबसे महत्त्वपूर्ण था, दलित चेतना का प्रादुर्भाव जो सीधे-सीधे राजनैतिक चेतना/कारक की देन थी और जिसने अन्य सभी कारणों पर उत्प्रेरक का कार्य किया। इस दलित राजनीति और चेतना को राष्ट्रीय एजेंडा पर (कम से कम हिन्दी क्षेत्र में) लाने का कार्य कांशीराम के द्वारा संपन्न हुआ। यह अनायास और मात्र संयोग नहीं है कि 80 के दशक में उभरने वाला हिन्दी दलित साहित्य आन्दोलन और कांशीराम द्वारा 'वामसेफ' की स्थापना (6 दिसम्बर 1978), 'डी.एस.फोर' का गठन (6 दिसम्बर 1981) एवं बसपा की स्थापना (14 अप्रैल 1984) समकालीन हैं। इन संगठनों ने दलितों को नये तरीके से संगठित करते हुए इनमें अभूतपूर्व जागृति का संचार किया और दलित चेतना को उभारा, जिसने दलितों की आत्माभिव्यक्ति को एक नए स्तर पर पहुँचा दिया और दलित साहित्य आंदोलन की आधारशिला रख दी।

किसी भी आंदोलन का एक आर्थिक पक्ष होता है। दलित चेतना और साहित्य की पृष्ठभूमि में भी आर्थिक कारण मौजूद हैं। जमींदारी प्रथा का खात्मा, भूमि सुधार, रोजगार में आरक्षण आदि ने दलितों के एक हिस्से को स्थायित्व दिया, जो दलित साहित्य आंदोलन के उन्नायकों के रूप में उभरे जैसा कि शोध प्रबंध में देखा जा सकता है।

हिन्दी दलित आंदोलन में शिक्षा और शिक्षकों की भूमिका को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। संविधान और कानून द्वारा उन्हें शिक्षा का अधिकार देना एक क्रान्तिकारी कदम

सिद्ध हुआ। शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान से लैस होकर उन्होंने दलित जीवन के विभिन्न प्रसंगों और अनुभवों को पहली बार कागज पर उतारा। इसके अतिरिक्त दलित साहित्य आंदोलन के उभरने में पत्र-पत्रिकाओं और संस्थाओं का भी खासा योगदान रहा। 'हंस' और 'युद्धरत आम आदमी' के अतिरिक्त दलितों की स्वयं की अनेक पत्रिकाएँ आईं। उधर 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी', 'दलित साहित्य मंच' आदि संस्थाओं ने भी दलित लेखकों को अवसर प्रदान किया। किसी भी साहित्यिक धारा के उभरने में आलोचकों/समीक्षकों की बड़ी भूमिका होती है। एक ओर जहाँ खुद दलित समुदाय से इस कालखण्ड में पहली बार आलोचक-समीक्षक निकले वहीं अनेक गैर दलित आलोचकों ने भी उन्हें अपना समर्थन दिया। इन बिन्दुओं को विस्तार से शोध में दिखाया गया है।

कोई भी साहित्यिक धारा अपने से पूर्ववर्ती अन्य धाराओं अथवा समकालीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करती है। इस रूप में हिन्दी दलित साहित्य के उदय में मराठी दलित साहित्य आंदोलन और हिन्दी प्रगतिशील साहित्य आंदोलन की भी बड़ी भूमिका है जिसकी विस्तार से चर्चा शोध प्रबंध में है। इन सभी कारकों ने अनुकूल राजनैतिक परिस्थितियों और दलित चेतना के निर्माण के पश्चात् हिन्दी में एक नये साहित्यिक आंदोलन का सूत्रपात किया।

साहित्य और समाज का अविच्छिन्न संबंध है। वैसे तो किसी भी युग में साहित्य की रचना और उसके बोध की प्रक्रिया सामाजिक संदर्भ से अप्रभावित नहीं रही है, लेकिन आधुनिक युग में सामाजिक संदर्भ और राजनैतिक परिवेश का जितना व्यापक और निर्णायक प्रभाव साहित्य पर पड़ा अथवा पड़ रहा है, उतना पहले कभी नहीं पड़ा। आज साहित्य की दुनिया समाज के आर्थिक ढांचे, राजनैतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित है और यह बात दलित साहित्य के प्रसंग में और भी लागू होती है जैसा कि तीसरे अध्याय में देखा जा सकता है इस अध्याय में दलित कविता में व्यक्त विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक सरोकारों को समझने का

प्रयास किया गया है जो कहीं न कहीं अपने समय और समाज को प्रतिबिंबित करता है।

मराठी दलित साहित्य को एक सामाजिक आन्दोलन का प्रतिफलन माना जाता है। यह बात हिन्दी दलित कविता के साथ भी लागू होती है। अन्य काव्यधाराओं और साहित्यिक परंपराओं की अपेक्षा उसका सीधा संबंध जीवन की जमीन से है। जिस हिन्दू समाज का अंग दलित समाज को माना जाता है, उसकी वर्ण व्यवस्था की सारी मान्यताएँ दलितों के विरोध में खड़ी हैं; इसलिए जब भी हमारे देश में किसी मुक्तिकामी विचारधारा/आंदोलन का आविर्भाव हुआ उसमें सबसे ज्यादा विरोध वर्णव्यवस्था और जातिवाद का हुआ। सम्पूर्ण हिन्दी दलित कविता का मूल स्वर इस वर्णभेद, जातिभेद और असमानताबोधक स्थितियों के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष का है जैसा कि शोध प्रबंध के तीसरे अध्याय में दलित कविता के सामाजिक सरोकार वाले उपशीर्षक के अंतर्गत दिखाया गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ० धर्मवीर, सोहनपाल सुमनाक्षर, कंवल भारती, कुसुम वियोगी, कर्मशील भारती, दयानन्द बटोही, मंसाराम विद्रोही, प्रेमशंकर आदि के काव्य में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कंवल भारती की कविता 'होली' की कुछ पंक्तियाँ इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं —

जो भी धर्म, शास्त्र, देवता, महापुरुष

सिखाते हैं असमानता

अलगाव, नफरत और अस्पृश्यता

न्यायोचित ठहराते हैं जो वर्णव्यवस्था को

मैं उन सबका विरोधी हूँ।

सांस्कृतिक दृष्टि से दलित समाज पर हिन्दू धर्म के विभिन्न तंत्र-मंत्र, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, धार्मिक विश्वासों और अंधविश्वासों का गहरा प्रभाव है और जिसके कारण

उनका शोषण और उत्पीड़न होता रहा है। लेकिन शिक्षित दलित लेखकों ने इन जंजालों को दूर हटाने का प्रयास करते हुए एक नयी संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया शुरू कर दी है, जैसा कि दलित कवियों के सांस्कृतिक सरोकार वाले उप अध्याय में दिखाया गया है। कुछ ऐसी ही स्थिति धार्मिक प्रश्नों को लेकर भी है। हिन्दू धर्म में दलितों की स्थिति अत्यंत विचित्र, विडम्बनात्मक और शोषणयुक्त रही है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही हिन्दू धर्म और पौराणिक मिथकों के प्रति उनके मन में कोई आस्था नहीं है बल्कि एक आक्रोश ही मिलता है जैसा कि शोध प्रबंध में विस्तार से दिखाया गया है। जयप्रकाश कर्दम की कविता 'गूंगा नहीं था मैं' की कुछ पंक्तियाँ देखिए –

जब तक समृतियाँ रहेंगी

रामायण, गीता और वेद रहेंगे

तब तक वर्ण शुचिता रहेगी

....

जाति के जहर को मिटाना है तो

इन तथाकथित धर्मग्रंथों को आग लगानी होगी और

नकारना होगा

वर्णित उस ईश्वर को जो कर्मानुसार

फल देता है।

जो साहित्य सामाजिक सरोकारों से जुड़ा होता है वह राजनीति से निरपेक्ष नहीं हो सकता। दलित साहित्यकारों ने इस बात को गहरे समझा है इसीलिए वे वर्तमान की सड़ी-गली, अवसरवादी राजनीति को प्रश्नों के कटघरे में रखते हुए नयी राजनीतिक पहल

की जरूरत का अहसास जगाते हैं। मुख्यधारा की गंदी राजनीति और राजनेताओं की पोल खोलते हुए दलित रचनाकारों ने उनकी बखिया उधेड़ी है जैसा कि शोध प्रबंध में विस्तार से दिखाया गया है। दलित विचारक-लेखक इस बात को अच्छी तरह समझ चुके हैं कि पहले दलित शोषण का हथियार धर्म था, अब राजनीति है और इसीलिए दलितों में राजनीतिक उभार भी आया। लेकिन इस उभार की सीमाओं को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। दलित रचनाकारों द्वारा नये दलित नेतृत्व के अवसरवाद, स्वार्थ और अपने फायदे के लिए उनका इस्तेमाल किए जाने और मनुवादी शक्तियों से उनके गठजोड़ आदि को अपनी रचना का विषय बनाना अभी बाकी है।

आर्थिक पराधीनता हर पराधीनता की जननी है। सामाजिक-राजनैतिक मुक्ति के संघर्ष आर्थिक मुक्ति के बिना पूरे नहीं हो सकते। समाजशास्त्रियों ने इसे दिखाया है कि वर्ण की विसंगतियाँ कहीं न कहीं वर्ग की विसंगतियों से जुड़ी हुई हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश दलित चेतना और संघर्ष ने सामाजिक प्रश्नों के बरक्स आर्थिक प्रश्नों को हाशिए पर रखा। फिर भी कुछ दलित कवियों ने अपनी कविताओं में आर्थिक विपन्नता और संघर्ष के चित्र खींचे हैं जिसे विस्तार से शोध प्रबंध में देखा जा सकता है। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के इस दौर में जहाँ पूँजीवाद नये-नये शिकंजे कस रहा है, इसको लेकर दलित साहित्यकारों को और भी सजग होने की एवं संघर्ष करने की जरूरत है।

दलित काव्य में नारी की स्थिति के बारे में शोध प्रबंध में विस्तार से चर्चा की गयी है। दलित साहित्यकारों में कुछ को छोड़कर शेष में स्त्रियों के प्रति संवेदनशीलता का अभाव सा लगता है। फिर भी जो चित्रण हैं उनमें एक विशिष्टता रेखांकित की जा सकती है वह यह कि नारी के संदर्भ में साहित्य की प्रचलित परिपाटी (प्रेयसी, पत्नी, माँ, बहन) की जगह अधिकांश में स्त्री को दलित कवियों ने एक वंचित-पीड़ित और संघर्षशील व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है जैसा कि शोध प्रबंध में देखा जा सकता है। जहाँ तक स्वयं महिला दलित

कवयित्रियों का सवाल है उनकी कविताओं में वर्णाश्रम के अतिरिक्त पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के चंगुल में जकड़ी स्त्री की दयनीय स्थिति की पीड़ा का गहरा अहसास मिलता है साथ ही उससे मुक्ति के लिए संघर्ष का साहस भी। क्योंकि दलित स्त्री, दलित होने की पीड़ा के साथ-साथ दलित पुरुषों के द्वारा होने वाले अत्याचारों की भी शिकार है। सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, शकुन गौतम आदि की कविताओं के द्वारा इस पीड़ा और संघर्ष को समझने की कोशिश शोध प्रबंध में की गई है।

इसी अध्याय में गैर दलित कवियों की दलित संवेदना और उनके काव्य में अभिव्यक्त दलित चेतना को समझने का प्रयास किया गया है। इनमें प्रमुख रूप से निराला और नागार्जुन के अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', धूमिल, अदम गोंडवी, सोमदत्त, डॉ० रणजीत आदि की कविताओं की दलित संवेदना को दलित कवियों के बरक्स देखा गया है। इन कविताओं को पढ़ने से सहानुभूति और स्वानुभूति का अंतर भी स्पष्ट हो जाता है जो गैर दलितों और दलितों की दलित विषयक रचनाओं में दिखाई पड़ती है। इस पर शोध प्रबंध में विस्तार से चर्चा की गयी है।

दलित साहित्य विमर्श में सौन्दर्यशास्त्र एक प्रमुख विषय है। पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिमानों से भिन्न, दलित कविता अथवा साहित्य के लिए एक अलग सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता और माँग को दलित लेखक उठाते रहे हैं। हिन्दी के पास साहित्य शास्त्र के नाम पर जो मौजूद है उसमें एक ओर तो संस्कृत के काव्यशास्त्र की परंपरा है जो कुलीन मानसिकता और अभिजनोचित सौन्दर्यबोध का स्वरूप है तो दूसरी ओर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव। ये कसौटियाँ दलित साहित्य, जो प्रतिरोध और संघर्ष का साहित्य है, के मूल्यांकन में अक्षम साबित होती हैं।

दलित साहित्य के लिए अलग सौन्दर्यशास्त्र की माँग तो काफी हुई लेकिन इस बारे में कोई गंभीर और समग्र प्रयास नहीं हुआ। इस बारे में पहला गंभीर और विनम्र प्रयास इस

शोध प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। यहाँ उल्लेख करना गैर जरूरी नहीं होगा कि दलित साहित्य अभी अपनी शैशवावस्था में है अतः इसकी विशेषताएँ पूरी तरह से नहीं उभरी हैं, फिर भी इस साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की कतिपय कसौटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि दलित साहित्य के सौन्दर्य के तत्त्व केवल कलागत अथवा रूपगत नहीं हो सकते। साहित्यिकता की कसौटी केवल शिल्पगत नहीं होती, उसके भाव अथवा वस्तु पक्ष की भी उतनी ही महत्ता है। दलित साहित्य के लिए यह बात और भी लागू होती है। वैसे भी साहित्य/कविता की नयी धाराओं में भाव अथवा वस्तु और शिल्प अथवा रूप को अलग-अलग करके नहीं समझा जाता है। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के क्या तत्त्व हो सकते हैं इसकी चर्चा विस्तार से शोध प्रबंध में है, फिर भी कुछ तत्त्वों को देखा जाए। समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय – इन जीवन मूल्यों को दलित साहित्य के सौन्दर्य तत्त्व का कोर माना जा सकता है। यह मानव मात्र की मूलभूत भावनाएँ हैं। यही दलित साहित्य की शक्ति है और उसका सौन्दर्य भी।

अनुभूति की प्रामाणिकता दलित साहित्य का एक अन्य अत्यन्त आकर्षक एवं प्रबल वैशिष्ट्य है। यह प्रामाणिकता नयी कविता अथवा नयी कहानी से अलग अनिवार्य रूप से सामूहिक अथवा सामुदायिक है और इस कारण वस्तुगत है। दलित रचनाकार का अनुभव-सन्दर्भ व्यक्तिगत होते हुए भी सामूहिक है। दूसरे शब्दों में दलित रचनाकार का व्यक्तिगत 'मैं' व्यक्तिवादी इकाई नहीं बल्कि सामूहिक 'हम' है।

यातना, वेदना और बेचैनी दलित साहित्य की एक अन्य विशेषता है, दूसरी ओर आनंद और सौन्दर्य भी दलित साहित्य का तत्त्व है। इनके अतिरिक्त नकार और संघर्ष, तनाव, सपाटबयानी, परिवेश, उपयोगिता, अनगढ़ता आदि को दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिमानों के रूप में रखा जा सकता है। सौन्दर्यशास्त्र के उपरोक्त बिन्दुओं को शोध प्रबंध में विस्तार से दिखाया गया है।

भाषा, साहित्य और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। दलित कविता की भाषा पर तरह-तरह के आरोप लगाए जाते हैं। इस पर अनगढ़, अरुचिकर, अश्लील, सपाटबयानी आदि का आरोप लगाया जाता है। इन आरोपों का जवाब शोधप्रबंध में दे दिया गया है। दलित साहित्यकारों ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो उनके अपमान, वेदना एवं संघर्ष के साथ-साथ उनकी आकांक्षाओं आदि को अभिव्यंजित कर सके। इसके लिए वह ऐसे अनेक प्रयोग करता है जो परंपरागत काव्य भाषा के लिए बिल्कुल नया है। दलित कवि सीधे-सीधे अपने पाठकों को जगाने और सामंती-वर्णवादी मानसिकता को झकझोर देने वाली भाषा में बात करता है।

यहाँ यह उल्लिखित करना जरूरी है कि परंपरागत साहित्य के जिन भावभंगिमाओं को दलित साहित्य ने नकारा है और अपनी कविताओं के माध्यम से दलित जीवन की वेदना और संघर्ष को वाणी दी है, उसमें यह स्वाभाविक होता कि दलित कविता की भाषा अभिजात्य संस्कारों से मुक्त हो। पर ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। होना यह चाहिए था कि दलित कविता की शब्दावली तद्भव, देशज और आँचलिक प्रयोगों से बहुल हो, जबकि वर्तमान की दलित कविताओं में अपेक्षाकृत तत्सम शब्दावली की भरमार है। वैसे परवर्ती कविताओं में तत्समता कम हुई है जो दलित कविता का, भाषा के अभिजात्य से मुक्ति पाने के संघर्ष एवं उसकी जद्दोजहद की ओर संकेत करता है। शोध प्रबंध में इसे विस्तार से दिखाया गया है।

दलित साहित्य/कविता की एक अन्य विशेषता है पौराणिक-ऐतिहासिक मिथकों का नये तरीके से प्रयोग। दलित कवि ने अनेक परंपरागत नायकों/आदर्श पात्रों के दोहरे मानदंडों को दिखाते हुए उनके दूसरे चेहरे को सामने लाने का प्रयास किया है। राम, जो मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं, को दलित कवि हत्यारे के रूप में चित्रित करता है। इसी प्रकार द्रोणाचार्य और तुलसी को भी एक खलनायक के रूप में चित्रित करता है। दूसरी तरफ शम्बूक, एकलव्य, कर्ण आदि पात्र नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, जो जिजीविषा, विद्रोह

और संघर्ष के प्रतीक बन गए हैं जैसा कि शोध प्रबंध में देखा जा सकता है।

दलित विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण आयाम दलित चेतना और मार्क्सवाद के संबंधों को लेकर रहा है। मार्क्स और अम्बेडकर की अनेक समानताएँ – जैसे दोनों ही के द्वारा शोषित-पीड़ित जनसमुदाय की पक्षधरता, अतिमानवीयता, उत्पीड़ितों की मुक्ति के लिए मार्ग तलाश करने का प्रयास एवं संघर्ष आदि ऐसे तत्त्व हैं जिससे दोनों में सहज एकता और घनिष्ठ संबंध स्थापित हो सकता है। लेकिन देखा गया है कि इसके ठीक विपरीत मार्क्सवादियों और अम्बेडकरवादियों में एक तनाव सा रहा है। स्वयं अम्बेडकर मार्क्स की जगह बुद्ध के दर्शन को अपनाते हैं। मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के बीच तनाव क्यों है? मार्क्सवाद और दलित चेतना की यह दूरी दलितों और गरीबों की लम्बी और व्यापक लड़ाई के लिए क्या लाभकारी है, खासकर वैश्वीकरण के बदलते हुए दौर में जब स्वयं दलितों को नये तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इन सब प्रश्नों पर विचार पांचवें अध्याय में किया गया है।

दरअसल मार्क्सवाद से इस दूरी का एक महत्त्वपूर्ण कारण भारतीय मार्क्सवादियों का जड़वादी होना रहा, जिन्होंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद का कोई विकास नहीं किया। मार्क्सवादियों ने भारतीय समाज के कोढ़ छुआछूत और जातिवाद पर ध्यान नहीं दिया, केवल मजदूरों की लड़ाई लड़ते रहे। जबकि अम्बेडकर ने भारतीय समाज की जड़ता का अध्ययन करते हुए पाया कि ग्राम समाज की अमरता और ब्राह्मणवाद, दो चीजें इसके मूल में हैं और इसके आधार हैं आर्थिक तौर पर भूमि की सामूहिक मिल्कियत और सामाजिक तौर पर जाति प्रथा। अम्बेडकर ने स्वतंत्र रूप से इस बात को पहचाना कि जातिभेद का उन्मूलन, प्रचलित भूमि संबंधों में आमूल परिवर्तन के सवाल से जुड़ा हुआ है जबकि भारत में मुख्यधारा के मार्क्सवादियों, जो कि 'क्लासिकल मार्क्सवादी' हैं और जिनकी मार्क्सवाद की समझ जड़वादी है, के लिए भूमि सुधार कभी भारतीय समाज का केन्द्रीय प्रश्न नहीं रहा। अतः इन

मार्क्सवादियों ने भी अंबेडकरवादियों की उपेक्षा की। हालांकि मार्क्सवाद की तीसरी और अति क्रान्तिकारी धारा ने ठेठ भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद को व्याख्यायित किया और उपरोक्त प्रश्नों अर्थात् भूमि सम्बन्धों और जाति के प्रश्नों से मुख्यातिब हुई है। इन बिन्दुओं पर गंभीरतापूर्वक विश्लेषण-विवेचन शोध प्रबन्ध में किया गया है।

आज मार्क्सवाद और दलित चेतना में समन्वय की जरूरत और बढ़ गई है। इसके लिए अन्य चीजों के अतिरिक्त मार्क्सवादियों को दलितोद्धार और ब्राह्मणवाद विरोधी संघर्ष को अपने आंदोलनों में स्थान देना होगा। दूसरी ओर दलित नेतृत्व को अपने उन अवसरवादी नेताओं को पहचानना होगा जिन्होंने वामपंथ पर अकारण हमला बोल दिया है, जो पिछले दिनों उभरा है और बिना किसी सुविचारित कार्यक्रम और प्रतिबद्धता के कारण जिसने आज उन्हीं मनुवादी-ब्राह्मणवादी शक्तियों से हाथ मिला लिया है जिसके खिलाफ संघर्ष छेड़ा था।

इसी तरह हिन्दी प्रगतिशील साहित्य और दलित साहित्य के संबंधों की भी एक अजीब स्थिति है। एक ओर तो प्रगतिशील साहित्यकारों द्वारा रचे गये सर्वहारा और दलित संबंधी रचनाओं ने हिन्दी क्षेत्र में एक नयी जमीन बनाने और एक नयी पौध लगाने के लिए आधारभूमि तैयार की। दूसरी तरफ अनेक प्रगतिशील आलोचकों-साहित्यकारों ने दलित साहित्य को दबाने-उपेक्षित रखने का प्रयास भी किया। लेकिन आज दलित साहित्य एक स्वीकृत धारा है बल्कि जैसा कि राजेन्द्र यादव मानते हैं, 21वीं सदी में महिला साहित्य और दलित साहित्य ही हिन्दी की मुख्यधारा होगी।

दलित साहित्य आन्दोलन यद्यपि आज स्थापित हो चुका है लेकिन इसकी सारी प्रवृत्तियों और संभावनाओं का खुलासा और विकास होना अभी बाकी है, इसका श्रेष्ठ रूप आना अभी शेष है। इधर दलित साहित्य को कई समस्याओं से जूझना पड़ रहा है, इसकी कुछ सीमाएँ उजागर हुई हैं और कुछ चुनौतियाँ भी उठ खड़ी हुई हैं। इन सब पर विस्तार से चर्चा छठे अध्याय में की गई है।

दलित साहित्य की समस्याएँ, सीमाएँ और चुनौतियाँ बहुआयामी हैं। एक ओर दलित साहित्यकारों को सवर्ण, सामंती-पूँजीवादी समाज की बहुविध बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है तो दूसरी ओर दलित रचनाकारों की अपनी सीमाएँ और दलित समाज के अपने अन्तर्विरोध भी सामने आ रहे हैं, इन सबका दलित साहित्यकारों को मुकाबला करना है।

दलित साहित्य को पढ़ते हुए एक बात स्पष्ट दिखती है कि इसमें अनुभूतिगत विविधता नहीं है, यह एक सीमित आवर्त में घूम रहा है और इसलिए इसमें एकरसता सी आ गई है। इस एकसुरता और आवर्तता के कारणों की पड़ताल शोध प्रबन्ध में की गई है। साथ ही दलित साहित्य की अपार संभावनाओं को देखते हुए इसके संभावित विषयगत विविधताओं को भी रेखांकित किया गया है। यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है कि इन विषयों के कोर में समानता, मुक्ति, बंधुत्व और मानवता का विचार होगा। इस आलोक और पृष्ठभूमि में प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति जैसे विषयों, जो दलितों के जीवन के भी हिस्से हैं, को सहज ही साहित्य का विषय बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आधुनिकता का दबाव, शहरी जीवन की विसंगतियाँ, नये दलित नेतृत्व का अवसरवाद और भ्रष्टाचार, मध्यवर्गीय अभिजन दलितों का जीवन, ब्राह्मणवाद के नये रूपों और दलित स्त्री जीवन के प्रसंग आदि ऐसे विषय हैं जिन्हें अपनाकर दलित साहित्य बहुविध, व्यापक और समृद्ध होगा। इन सबकी विस्तृत चर्चा शोध प्रबन्ध में की गयी है।

दलित साहित्य की एक मुश्किल यह भी है कि यह उन्माद और आक्रोश का साहित्य बनने लगा है। दरअसल इसके भी अपने कारण हैं और जो एक हद तक लाजिमी भी हैं। समाज और इतिहास दलितों के लिए जितना बर्बर और अमानवीय रहा है, उसके विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया आक्रोशपूर्ण और एक उन्माद के रूप में हो, यह स्वाभाविक ही है बल्कि एक सीमा तक नैतिक भी। लेकिन इसे स्वाभाविक और नैतिक मानते हुए भी इस बात को कहने का खतरा उठाना ही पड़ेगा कि ऐसी स्थिति रचना को स्थायित्व नहीं दे सकती, क्योंकि

एक तो उन्माद और आक्रोश दलित लेखक को उद्देश्य से भ्रमित करेगा, दूसरी ओर इस उन्माद और तात्कालिकता का फायदा कुछ दलित लेखक सामुदायिक हित की जगह अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करेंगे। अतः जिस व्यापक और महती उद्देश्य और सामाजिक परिवर्तन के अभियान के साथ दलित साहित्य आन्दोलन शुरू हुआ है, उसमें उन्माद, आक्रोश, प्रतिक्रिया लंबे समय में सहायक सिद्ध नहीं होंगे जैसा कि शोध प्रबंध में दिखाया गया है।

दलित साहित्य का एक बड़ा संकट अपने अस्तित्व को लेकर ही है। कुछ अपवादों को छोड़कर अभी भी दलित रचनाकारों की रचनाओं को सम्पादक-प्रकाशक नहीं छापते। अस्तित्व के संकट का एक अन्य आयाम यह है कि दलित साहित्य रचनात्मक लेखन की अपेक्षा वैचारिक बहसों में ज्यादा पड़ गया है। जयप्रकाश कर्दम जैसे दलित साहित्यकार तभी चिंतित हैं कि साहित्य का सृजन ही नहीं होगा तो चर्चा, विचार-विमर्श आदि किस पर होगा। यहाँ यह बता देना जरूरी है कि इस आलोचना और विमर्श के दलित साहित्यकारों पर इतने हावी होने का कारण है स्वयं को स्थापित करने, रातों-रात छा जाने की लालसा होना। शोध प्रबंध में इन बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की गयी है।

दलित साहित्य की एक अन्य समस्या दलित रचनाकारों से जुड़ी है। एक ओर तो दलित रचनाकार आत्मप्रशंसा और आत्मश्लाघा के शिकार हैं तो दूसरी ओर इनमें सत्ता-लोभ और मध्यवर्गीय मानसिकता का प्रवेश भी हो गया है। वर्तमान भारतीय राजनैतिक-आर्थिक तंत्र ने, जहाँ हर जगह भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, अवसरवाद और आर्थिक शोषण है, दलित रचनाकारों में भी प्रभाव जमा लिया है। सुविधा और संपन्नता के आसन पर बैठे कई दलित लेखकों को न अपना अतीत याद आता है और न ही संघर्ष। इसी से मिलती-जुलती समस्या है दलितों का ब्राह्मणवाद, जिसमें दलित समाज की विभिन्न जातियाँ अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझती हैं और जिसने दलित लेखकों को भी अपने चपेट में ले रखा है, वाल्मीकि की कहानी 'शवयात्रा' इसका अच्छा उदाहरण है। इन स्थितियों को विस्तार से शोध प्रबंध में दिखाया गया है।

जहाँ तक दलित साहित्य में नारी की स्थिति का प्रश्न है, वह बहुत उत्साहवर्धक नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ तीन बिन्दुओं पर विचार किया गया। एक तो दलित साहित्य में नारी का चित्रण किस प्रकार का हो रहा है? इसमें समस्त नारी जगत (दलित और गैर दलित दोनों) की स्थिति का मूल्यांकन किया गया है क्योंकि नारी की स्थिति भारतीय समाज में दलितों से बेहतर नहीं है। दूसरे, दलित नारी का चित्रण क्योंकि दलित नारी तो दलितों में भी दलित है और कई मामलों में गैर दलित सवर्ण नारी से अधिक शोषित-पीड़ित है भले ही इनका वर्ग समान हो। और तीसरे, स्वयं दलित महिला साहित्यकारों की उपस्थिति। उपरोक्त तीनों बिन्दुओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं है। इन बिन्दुओं और इनके कारणों का विवेचन विस्तारपूर्वक शोध प्रबंध में किया गया है।

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र दलित साहित्य विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा रहा है। लेकिन सौन्दर्यशास्त्र को लेकर कोई व्यवस्थित और पूर्ण चर्चा नहीं मिलती है जो दलित साहित्य के गत्यात्मक और विकसनशील स्वरूप को ध्यान में रखकर की गयी हो। हिन्दी में दलित सौन्दर्यशास्त्र पर पूर्व के कार्यों का उल्लेख करते हुए संभवतः पहला विनम्र और व्यवस्थित प्रयास प्रस्तुत शोध प्रबंध में हुआ है, यद्यपि इसमें भी परिवर्धन की संभावना बरकरार है।

सातवां और अन्तिम अध्याय उपसंहार है।

दलित साहित्य/कविता के प्रस्तुत अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि दलित साहित्य ने आज एक लंबा रास्ता तय कर लिया है और तेजी से बदलते हुए दौर में नयी परिस्थितियों, समस्याओं एवं चुनौतियों से टकरा रहा है ताकि वह अपनी संपूर्ण संभावनाओं को साकार कर सके, जिसकी अंतिम परिणति इस रूप में होगी अथवा होनी चाहिए कि वह दलित कविता/साहित्य होते हुए भी, अथवा होने के बावजूद सम्पूर्ण मानवीय अनुभव की कविता/साहित्य बन सके। इसके लिए उसे वर्ण-जाति के अतिरिक्त वर्ग और लिंग की विषमता के विरोध का साहित्य भी होना पड़ेगा एवं सम्पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी, और इसकी पूर्ण संभावना दलित साहित्य में मौजूद है।